भावी भारत का निर्माण

■ दत्तोपंत ठेंगड़ी

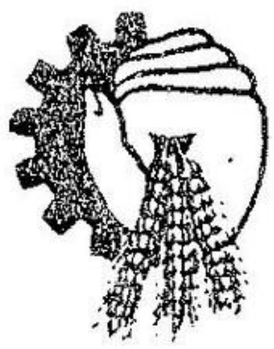

National Organisation Of Bank Workers

(Affiliated to Bharatiya Mazdoor Sangh)

New Datta Mandir Road, Itwari, NAGPUR-440 002 Grams : BANKWORKER

पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म पर सार्वजनिक वाद-विवाद आज भी चल रहा है और जब तक पंथ निरपेक्ष (सेकुलर), पंथ (रिलीज़न)और धर्म आदि शब्दों का पूरी अवधारणात्मक स्पष्टता और बौद्धिक ईमानदारी के साथ विश्लेषण नहीं कर लिया जाता तब तक इस विषय पर किया गया कोई भी चिन्तन व्यर्थ ही सिद्ध होगा।

धर्म का पुनर्जागरण उत्पीड़ित मानवता को शान्ति, सुव्यवस्था और आनन्द प्रदान करने के लिए भी अपरिहार्य है।

पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म शब्द की उत्पत्ति जार्ज जैकब होलियॉक के जीवन और परिश्रम का परिणाम है जिसे उसने सन् १८५० में वैडले से भेंट के बाद सन् १८५१ में प्रचलित किया था।

उन्हें इस सचाई का पता नहीं है कि संविधान में आरक्षण के लिए वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया है, जाति का नहीं।

भारत के 'एकात्म मानववाद' ने पश्चिमी विचार-दर्शन सम्बन्धी व्यवस्थाओं की अपूर्णता, एकांगीपन, असन्तुलन और व्यर्थता को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है। एकात्मवादी इस व्यवस्था ने हमें ऐसे विश्व-राज्य के उदय की संभावना से अवगत करा दिया है जिसमें सभी देशों की राष्ट्रीय संस्कृतियां अपना-अपना विकास करते हुए मानवता को समृद्ध बनाने में सहायक हो सकेंगी और तब ऐसे मानव धर्म का विकास किया जा सकेगा जिसमें भौतिकता सहित संसार में सभी मजहब, पंथ या रिलीजन अपनी पूर्णता के साथ अपना योगदान कर सकेंगे।

भारत का निर्माण

अपने देश की राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को इस समय राजनीतिक अथवा सामरिक आक्रमण से भी अधिक गंभीर खतरा विदेशी पूंजी के बढ़ते हुए विस्तार और उसकी पिछलग्गू बनी भारतीय एकाधिकारवादी पूंजी से है। अपनी पूंजी और उन्नत तकनीक के आधार पर विदेशी लोग अपने आर्थिक साम्राज्य के विस्तार की प्रक्रिया में लगे हुए हैं और दुर्भाग्यवश हमारे बहुत से राजनेता उनके हाथों बिक चुके हैं। अतः अपने देश के सम्मुख इस समय सबसे प्रमुख समस्या विदेशी आर्थिक प्रभुत्व सम्बन्धित आक्रमण का प्रतिकार करने की है। स्वाधीनता की दूसरी लड़ाई या विदेशी आर्थिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध करना ही प्रत्येक देशभक्त का अब राष्ट्रीय कर्तव्य बन गया है।

विचारणीय विषय की सीमा-रेखाओं को प्रारंभ में ही स्पष्ट कर देना बहुत आवश्यक है, अन्यथा शीर्षक से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि इसमें भावी समाज की रूपरेखा का वर्णन किया गया होगा। परन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। इसका कारण यह है कि रूपरेखा तैयार करने की आवश्यकता तभी अनुभव होती है, जब उसे लागू करने की स्थिति आ गई हो। इसलिए सामाजिक ढांचे का पुनर्निर्माण करने वाले व्यक्ति कभी भी कोरे किताबी-ज्ञान का आंख मूंदकर सहारा नहीं लेते। यदि ऐसा न होता तो राष्ट्र-निर्माता लेनिन ने सोवियत राष्ट्र निर्माण के प्रारंभिक चरण में कभी भी यह न कहा होता कि उसका कम्युनिज्म केवल रूस का सोवियतीकरण और विद्युतीकरण करना चाहता है और एक तकनीकी व्यक्ति बीस कम्युनिस्टों के बराबर होता है।

जहां तक विकास के विभिन्न चरणों की विस्तृत रूपरेखा और विशिष्ट प्रश्नों के क्रियात्मक हल खोजने की बात है मार्क्स और एंजिल्स ने उन पर कोई चर्चा नहीं की क्योंकि वे उसे कल्पनालोक की उड़ान मानते थे। इस संबंध में मार्क्स का तो यह कहना था कि "मेहनतकश वर्ग के पास लागू करने के लिए किसी बने बनाए आदर्श राज्य की संकल्पना नहीं है और वे किन्हीं आदर्शों से बंधे नहीं हैं। परन्तु वे नवीन समाज को उन तत्वों से पूरी तरह मुक्ति दिला देंगे जिनसे नष्टप्राय बुर्जुआ समाज इस समय गहरी पीड़ा का अनुभव कर रहा है।" कम्युनिस्टों का काम "भावी समाज की संगठनात्मक संरचना के लिए काल्पनिक व्यवस्थाओं की चिंता करना नहीं है। अतः उसकी विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करने का तो प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। भावी समाज में खाद्यान्न, वितरण और रहन-सहन की क्या व्यवस्था होगी, इन पर विचार करना कल्पनालोक में उड़ान भरने के सिवा कुछ भी नहीं है। अतः भविष्य में कायम होने वाले कम्युनिस्ट समाज के लोग उन बातों के लिए तनिक भी चिंतित नहीं होंगे जिनके सम्बन्ध में हम सोचते हैं कि उन्हें चिंता करनी चाहिए।"

एक बार पंडित दीनदयाल उपाध्याय से जब किसी ने भावी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करने से सम्बन्धित प्रश्न किया था, तब उन्होंने उलटकर प्रश्नकर्ता से यही पूछा कि "क्या आप भावी पीढ़ी के हाथ पहले से ही बांध देना चाहते हैं?"

इसी तरह श्री एम०एन० राय ने भी अपने नव-मानवतावाद के आधार पर आदर्श समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करना उचित नहीं समझा क्योंकि वह एक ऐसी काल्पनिक व्यवस्था का चित्रण करना होता है, जिसे उनके अनुयाई अपने लिए अन्तिम सत्य समझ लेते। लेकिन इससे यह अर्थ भी निकल रहा था कि उस काल्पनिक व्यवस्था को पा लेने के बाद प्रगति और विकास की अब कोई संभावना शेष नहीं रह गई है। दूसरे शब्दों में इससे समाज निश्चेष्ट और गतिहीन हो जाता।

अतः संरचना की रूपरेखा की मांग करना व्यावहारिक न होकर पूरी तरह कल्पना जगत से संबंधित है और जब तक उसको लागू करने की स्थिति न उत्पन्न हो जाए तब तक उसकी चिंता करना अबुद्धिमत्तापूर्ण कदम के सिवा कुछ भी नहीं है।

एक अन्य गलतफहमी यह भी हो सकती है कि अपनी सांस्थनिक संरचना पूरी तरह से एक आन्तरिक मामला है। इसमें कोई संदेह भी नहीं है

कि यह पूरी तरह आंतरिक मामला ही है। फिर भी, इसका अर्थ यह नहीं है कि इस आंतरिक सांस्थनिक संरचना को बाहरी तत्व प्रभावित न करते हों। इसी तरह यद्यपि हमने यह घोषणा कर रखी है कि हमारी विदेश नीति का उद्देश्य विश्व शांति और मानव-कल्याण को ध्यान में रखते हुए अपने महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा करना है, फिर भी अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियां, पड़ोसी देशों के साथ हमारे सम्बन्ध और प्रतिरक्षा संबंधी आवश्यकताएं आदि ऐसे गंभीर तत्व हैं जो कि इस संरचना पर अपना गहरा असर डालते हैं। इसलिए शास्त्रकारों ने यह कहा है कि "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चिन्ता प्रवर्तते।"

अपने देश की राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को इस समय राजनीतिक अथवा सैनिक आक्रमण से भी अधिक गंभीर खतरा विदेशी पूंजी के बढ़ते हुए विस्तार और उसकी पिछलग्गू बनी भारतीय एकाधिकारवादी पूंजी से है। अपनी पूंजी और उन्नत तकनीक के आधार पर विदेशी लोग अपने आर्थिक साम्राज्य के विस्तार की प्रक्रिया में लगे हुए हैं और दुर्भाग्यवश हमारे बहुत से राजनेता उनके हाथों बिक चुके हैं। अतः अपने देश के सम्मुख इस समय सबसे प्रमुख समस्या विदेशी आर्थिक प्रभुत्व सम्बन्धित आक्रमण का प्रतिकार करने की है। स्वाधीनता की दूसरी लड़ाई का विदेशी आर्थिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध करना ही प्रत्येक देशभक्त का अब राष्ट्रीय कर्तव्य बन गया है। आपद्-धर्म के अंश के रूप में इस युद्ध के लिए अपनाई जाने वाली व्यूह रचना या युद्ध-नीति अपने देश की सांस्थनिक संरचना को निकट भविष्य में प्रभावित करने वाली अवश्य होनी चाहिए।

किसी भी गंभीर विचार-मंथन के लिए उपयुक्त संदर्भ बिन्दुओं की आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं। वर्तमान संदर्भ में धर्म तत्व का ही सबसे पहले विवेचन आवश्यक हो जाता है।

'धर्म' एक ऐसा शब्द है जिसकी व्याख्या की जानी जरूरी है। इसका कारण यह है कि 'धर्म' शब्द को पंथ या 'रिलीजन' का पयार्यवाची मानकर उसे पंथ-निरपेक्षता या 'सेकुलरिज्म' का विरोधी मान लिया जाता है और इसी आधार पर अनेक विवेकशील बुद्धिजीवियों को भी इस शब्द से चिढ़ सी हो गई है। पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म पर सार्वजनिक वाद-विवाद आज भी चल रहा है और जब तक पंथ निरपेक्ष (सेकुलर), पंथ (रिलीजन) और धर्म आदि शब्दों का पूरी अवधारणात्मक स्पष्टता और बौद्धिक ईमानदारी के साथ विश्लेषण नहीं कर लिया जाता तब तक इस विषय पर किया गया कोई भी चिन्तन व्यर्थ ही सिद्ध होगा।

'पंथ-निरपेक्षता' शब्द का अपने देश में बहुत ही गलत अर्थ लगाया गया है। यही कारण है कि संविधान सभा से लेकर श्री पी.सी. चटर्जी की रचना 'पंथ-निरपेक्ष भारत' के लिए पंथ-निरपेक्ष जीवन-मूल्य' (सेकुलर वैलयूज फार सेकुलर इण्डिया) तक में पंथ-निरपेक्षता की अवधारणा को लेकर लगातार बहस चल रही है।

'पंथ-निरपेक्ष' शब्द का सीधा अर्थ पारलौकिक जगत से संबंधन्न होकर सांसारिक जगत से संबंध रखना है। या उसका आशय आध्यात्मिक और चर्च से संबंधित मामलों से न होकर भौतिक और नागरिक वस्तुओं से होता है। इसीलिए पंथ-निरपेक्षता का अर्थ राज्य को किसी पंथ या मजहब (रिलीजन) से मुक्त रखना बताया गया है और उसके अन्तर्गत चर्च और राज्य एक-दूसरे से पूरी तरह अलग होते हैं। जहां तक भारत का संबंध है, यहां तो राज्य सर्वदा ही पंथ-निरपेक्ष रहा है। पूज्य श्री गुरुजी प्रायः कहा करते थे कि हिन्दुस्थान के इतिहास में राज्य सदैव पंथों से ऊपर या पंथ-निरपेक्ष रहा है और हिन्दू राज्य निरपवाद रूप में पंथ-निरपेक्ष राज्य रहा है।

इस विषय में डा० बाबा साहब अम्बेडकर का कहना था कि "इसका (पंथ-निरपेक्ष राज्य) अर्थ यह नहीं है कि लोगों की मजहबी भावनाओं का ध्यान नहीं रखा जाएगा। पंथ-निरपेक्ष राज्य का सीधा अर्थ बस यही है कि इस संसद को किसी विशेष पंथ मजहब को शेष देशवासियों के ऊपर लादने का कोई अधिकार नहीं होगा। केवल इसी मर्यादा या सीमा रेखा को संविधान ने मान्यता दी है। पंथ-निरपेक्षता का अर्थ मजहब या उपासना पंथ को समाप्त करना नहीं है।"

अपने संपूर्ण जीवन में उपासना, मजहब या पंथ से संबंधित प्रत्येक वस्तु की अत्यंत निष्ठापूर्वक निन्दा करने वाले श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में पंथ या मजहब (रिलीजन) शब्द के विषय में लिखा था कि "कुछ शब्द बहुत अधिक प्रचलित हो जाने के बावजूद अपनी अभिव्यक्ति कभी भी ठीक रूप में नहीं कर पाते और उनके अनेक अर्थ लिए जाते हैं। संभवतः पंथ या मजहब (या अन्य भाषाओं में उसके पर्यायवाची) शब्द को छोड़कर कोई भी ऐसा दूसरा शब्द नहीं है जिसकी विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार से व्याख्या

करते हैं। इसीलिए इस शब्द को सुनने या पढ़ने से किन्हीं भी दो व्यक्तियों में समान विचारों और भावनाओं की प्रतिक्रिया नहीं होती। सच तो यह है कि 'रिलीजन' शब्द अपना सुनिश्चित महत्व (यदि उसका कभी ऐसा कोई सुनिश्चित महत्व था) तो कभी का खो चुका है और उसके अलग-अलग अर्थ किए जाने से केवल भ्रांति और व्यर्थ का लम्बा विवाद ही उत्पन्न होता है। अतः अच्छा और उचित तो यही होगा कि इस शब्द का प्रयोग पूरी तरह बन्द कर दिया जाए और उसके स्थान पर अधिक सीमित और स्पष्ट अर्थ का बोध कराने वाले धर्म विज्ञान (थियोलॉजी), दर्शन, नैतिकता, नीति शास्त्र, आध्यात्मिकता, तत्व मीमांसा (मेटा- फिजिक्स), कर्तव्य, अनुष्ठान संबंधी आदि शब्दों का प्रयोग करना कर दिया जाए।" इसके विपरीत गांधीजी का इस विषय में यह अभिमत है कि "कुछ लोग अपने बुद्धि और तर्क संबंधी अहंकार के नशे में आकर बड़े गर्व से यह घोषणा करते हैं कि उनका रिलीजन (धर्म) से कोई लगाव नहीं है। लेकिन उनका यह कथन ऐसा ही है जैसे कि एक व्यक्ति यह कहे कि वह सांस तो लेता है पर उसके नाक नहीं है।" अपने कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए गांधीजी ने कहा था कि "सत्य के प्रति अपनी गहरी निष्ठा के कारण मैं राजनीतिक क्षेत्र में आया हूं और पूर्ण विनम्रता के साथ-साथ बिना किसी संकोच के मैं यह कह सकता हूं कि जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति का रिलीजन (धर्म) से कोई संबंध नहीं है, वे वस्तुतः रिलीजन (धर्म) का मर्म या वास्तविक अर्थ ही नहीं समझते।" सम्भवतः यह अधिक उचित होता, यदि महात्मा जी यह कहते कि राजनीति को रिलीजन (धर्म) से अलग करने वाले अधिकांश व्यक्ति उसका वह अर्थ ले रहे हैं जो कि उनके द्वारा इस शब्द के लिए प्रयुक्त अर्थ से सर्वथा भिन्न है। गांधी जी की इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि उन्होंने 'रिलीजन' शब्द का प्रयोग नैतिकता के अर्थ में किया है जो कि रिलीजन की आलोचना करने वालों से बिल्कुल भिन्न है। फलस्वरूप एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग करने से स्पष्टता और अधिक बढ़ जाती है।

इस स्थिति में हमें स्वतः प्रभु ईसा के उन शब्दों का स्मरण हो आता है जिसमें उन्होंने कहा था कि "अक्षर मारता है और भावना जीवन प्रदान करती है।"

इस संदर्भ में श्री हुमायूं कबीर द्वारा उद्धृत विलियम केप के निम्न शब्द बहुत अधिक विचारणीय हैं —

"असमान मतों, सिद्धांतों और विश्वास की परस्पर विरोधी व्यवस्थाओं में समायोजन करके उन्हें संयुक्त करने की जो क्षमता हिन्दू संस्कृति में है, वह उसके किसी अन्य तत्व की अपेक्षा उसकी अनूठी जीवन शक्ति और चिरन्तन शक्ति का परिचायक है। असमान तत्वों को समायोजित करके उनके सम्मिश्रण से विविधता में एकता प्रस्थापित करने की उसकी यह कार्यक्षमता सम्भवतः संपूर्ण मानवीय इतिहास में बेजोड़ है और उसके दर्शन हमें अन्यत्र कहीं नहीं होते।"

केप का आगे यह भी कहना है कि "वस्तुतः आन्तरिक चित्तवृत्तियों और सम्बन्धों की परिधियों के जितने अधिक मानदण्ड होंगे उतने ही अधिक सत्य के स्वरूप और यथार्थ के उतने ही अधिक पहलू होंगे। हिन्दू मस्तिष्क में सहिष्णुता का मूल तो इस समाज की उस आन्तरिक चित्तवृत्ति में निहित है, जो यह मानती है कि प्रत्येक चित्तवृत्ति यथार्थ के किसी एक विशेष पहलू का स्वरूप हमारे सम्मुख स्पष्ट करती है। इसके स्थान पर यूरोपीय दर्शन परस्पर विरोधी विचारों की श्रेणियों को नामंजूर कर देता है और यूरोपीय विचार दर्शन यथार्थ का चित्रण स्पष्ट पारिभाषिक शब्दावली में उसे अन्य वास्तविकताओं से अलग करके निरपेक्ष या परम सत्य के रूप में करने का प्रयास करता है। इसके विपरीत हिन्दू ज्ञान-शास्त्र में सत्य के किसी भी स्वरूप को अमान्य न करके उनके विविध पक्षों एवं श्रेणियों को मान्यता दी गई है।"

केप हिन्दू जीवन-दर्शन और यूरोपीय विचारधारा की तुलना यहीं तक करके रुक नहीं जाता। उसका आगे कहना है कि "यूरोपीय विचार-दर्शन ने यथार्थ की व्याख्या परम सत्य या परम श्रान्ति के संदर्भ में करने का प्रयास किया है। इससे उसे प्रगाढ़ता और दृढ़ता के गुण तो अवश्य प्राप्त हुए पर उसने सत्य के प्रति यूरोप के दृष्टिकोण को हठधर्मिता और संकुचितता पर आधारित कर दिया। दूसरी ओर भारतीय दर्शन ने अति प्राचीन काल से इस तथ्य को मान्यता दी है कि यथार्थ या सत्य के अनेक पहलू होते हैं और उन्हें परस्पर विरोधी परिशुद्ध विचार श्रेणियों में आबद्ध नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन ने सत्य का विश्लेषण जिस तुला पर आधारित किया है, सम्भवतः यूरोपीय तत्व मीमांसा में उसके लिए कोई स्थान नहीं है।"

इस पृष्ठभूमि में भारतीय जीवन रचना, परिस्थितियों और विचार-दर्शन का मूल्यांकन पश्चिमी मानदण्डों के आधार पर करना सर्वथा

खतरे से परिपूर्ण है। विचार-दर्शन के विकास की बात को एक ओर रखकर हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भौतिकवादी तत्व भी यूरोपीय इतिहास के समान तीसरी दुनिया के देशों में पुनरावृत्ति करने वाले नहीं हैं।

नवीन लक्ष्य की आवश्यकता

औद्योगिक क्रान्ति के समय संयोगवश कुछ ऐसी घटनाएं हुई जिससे पश्चिमी जगत के राष्ट्रों को बहुत अधिक लाभ हुआ। इन घटनाओं में हवाई यातायात का युग आने से पहले समुद्री-मार्गों के भू-राजनीतिक महत्व में वृद्धि, कच्चे माल की बहुलता और प्रभावी विपणन क्षमता वाले देशों का अपने आन्तरिक व्यापार और वाणिज्य के विकास में तल्लीन, नौ सैनिक शक्ति वाले राज्यों के लिए विशाल साम्राज्य निर्माण हेतु अनुकूल परिस्थितियों, उपनिवेशों के शोषण के आधार पर अपनी आन्तरिक अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाए रखने की व्यावहारिकता आदि शामिल थे। लेकिन तीसरी दुनिया के देशों के लिए ऊपर गिनाई गई ये परिस्थितियां लौटकर आने वाली नहीं हैं। गोरे राष्ट्रों की सम्पन्नता और समृद्धि जिन तत्वों पर आधारित थीं वे अब अश्वेत राष्ट्रों को उपलब्ध नहीं होंगे। अतः पश्चिमी देशों की नकल करने और उन्हें अपना आदर्श, प्रतिमान मानने का कोई औचित्य शेष नहीं रह जाता।

पश्चिमी देशों के उदाहरणों की विफलता और ऐतिहासिक घटनाक्रम में स्पष्ट दिखाई देने वाली भिन्नता को ध्यान में रखकर विकास और प्रगति हेतु प्रयत्नशील सभी राष्ट्रों को अपने लिए नए लक्ष्यों का निर्धारण करना बहुत आवश्यक हो गया है।

इसलिए अब हमें अपनी राष्ट्रीय संस्कृति, अपनी पुरानी परम्परा, वर्तमान आवश्यकताओं और भविष्य की आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर अपनी प्रगति और विकास का प्रतिमान सुनिश्चित करना चाहिए। हमें पश्चिमी प्रतिमानों या उदाहरणों का गहराई से अध्ययन विश्लेषण करना चाहिए और यदि संभव हो तो उनसे लाभ भी उठाना चाहिए। लेकिन उन्हें अपने भावी विकास का आदर्श प्रतिमान मानने की गलती नहीं करनी चाहिए।

इसी तरह धर्म से प्रेरणा प्राप्त करने की अपनी परंपरा को हमें नहीं छोड़ देना चाहिए और इस बात की चिन्ता करनी चाहिए कि कुछ व्यक्तियों ने धर्म को पंथ या रिलीजन का पर्यायवाची मानकर उसे पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म का विरोधी बताने की जो गलती की है वह कभी भी उचित नहीं है।

सच्ची पंथ-निरपेक्षता

पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म से संबंधित संपूर्ण विवाद पश्चिमी जगत की देन हैं। इस संबंध में ईसाइयत के वेदवाक्य की घोषणा करते हुए संत मार्क ने कहा था कि "जो सीजर (राजा) का है वह उसे और जो ईश्वर का है वह उसे दो।" इस प्रकार संत मार्क ने सांसारिक और पारलौकिक गतिविधियों में लक्ष्मण रेखा खींचने का प्रयास किया था (जो कि यूनानी और रोमन नगर-राज्यों की अवधारणा से अलग था, जिसमें राज्य सत्ता मानवीय जीवन के दोनों पहलुओं का नियंत्रण करती थी) सन् ३१२ ईसवी में इटली के मिलान राज्य द्वारा घोषित राजाज्ञा या आदेश पत्र संत मार्क के ऊपर बताए गए इसी वेदवाक्य की सम्पुष्टि करता है।

ईसाइयत की दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद सम्राट कान्स्टेटाइन ने ईसाइयत को अपने राज्य द्वारा मान्य मजहब घोषित कर दिया और सन् ३४६ ईसवी में सभी गैर-ईसाई मंदिरों पर ताले लगा दिए। इसके बाद यूरोप में चर्च और राज्य एक के बाद एक-दूसरे पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास करते रहे।

पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म का दार्शनिक आधार जेरेमी बेन्थम और जेम्स मिल के उपयोगितावाद में निहित है जिसे उन्होंने थामस पेन और रिचर्ड कार्लाइल के उपासना-विरोधी कट्टर विचारों से प्राप्त किया था। उपयोगितावाद ने पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म को दोहरा तात्विक आधार प्रदान किया – विश्वास की स्वतंत्रता और मानवीय व्यक्तित्व का विकास, और समाज के निर्माण में मजहब या रिलीजन तत्व की पूर्ण अनुपस्थिति। समाज-निर्माण की अति महत्वपूर्ण प्रक्रिया से मजहब या रिलीजन को निकाल बाहर करने के लिए यहां तक कहा गया कि "मकान या भवन का नक्शा बनाने वाले वास्तुकार की सलाह के बिना भी उन सभी उद्देश्यों को पूरा किया जा सकता है जिनके लिए भवन के नक्शे का निर्माण वास्तुकार द्वारा कराया गया था।" कहने का अर्थ यह था कि मजहब या रिलीजन की दैवी सत्ता के बिना भी लौकिक या सांसारिक जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाया जा सकता है।

राजनीतिक दृष्टि से पंथ-निरपेक्षता का विकास सन् १८३२ के सुधार कानून से पहले और बाद की उथल-पुथल भरी परिस्थितियों का परिणाम है और आंशिक रूप से उसे राबर्ट ओवेन के समाजवाद तथा चार्टिस्ट आंदोलन ने प्रेरणा प्रदान की थी। पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म शब्द की उत्पत्ति जार्ज जैकब होलियोक के जीवन और परिश्रम का परिणाम है जिसे उसने सन् १८५० में ब्रैडले से भेंट

के बाद सन् १८५१ में प्रचलित किया था। होलियोक ने उस समय जोर देकर कहा था कि पंथ निरपेक्षता या सेकुलरिज्म को मजहब या रिलीजन से संबंध आपसी विरोध पर आधारित न होकर दोनों की अपनी-अपनी विशिष्टता और स्वायत्तता को बनाए रखने में है। दूसरी ओर ब्रैडले का विश्वास था कि पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म में ईश्वर के अस्तित्व को अमान्य किया जाना आवश्यक है।

संयुक्त राज्य अमरीका में मजहब या रिलीजन पर आधारित स्वतंत्रता अन्य सभी तरह की स्वतंत्रताओं का मूल है। जबकि यूरोप में उसकी प्राप्ति सबसे बाद में, यहां तक कि राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद, ही की जा सकती है। अमरीका में पंथ या रिलीजन के प्रति गहरे सम्मान की भावना होने के कारण मजहबी स्वतंत्रता वहां के समाज और विचार-दर्शन में अपनी गहरी जड़ें जमाए हुए है। दूसरी ओर यूरोप में मजहबी स्वतंत्रता पंथ, मजहब या रिलीजन के प्रति उदासीनता और विरोध के कारण लोगों को प्राप्त हुई है। पंथ-निरपेक्षता या सेकुलरिज्म के प्रति अमरीका के अधिकारिक दृष्टिकोण को सन् १७९१ में अमरीकी संविधान में किए गए प्रथम संशोधन (और उसके बाद एक शताब्दी से भी अधिक समय के उपरान्त) सन् १९४० के कैण्टवेल बनाम कनक्टीकर राज्य संबंध मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किए गए निर्णय में देखा जा सकता है।

अतः हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भावी भारत की सांस्थानिक संरचना का विकास करते समय उसे मजहब, पंथ या रिलीजन के प्रभाव से मुक्त रखना आवश्यक है। उसका विकास तो सनातन धर्म के सार्वभौमिक नियमों के आधार पर किया जाना चाहिए। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर डाक्टर अम्बेडकर ने कहा था कि मजहब, पंथ या रिलीजन पूरी तरह व्यक्ति से संबंधित व्यक्तिगत विषय है जबकि धर्म का स्वरूप सामाजिक होने के कारण व्यापक है।

कठिनाई तब खड़ी होती है जब हमारे देश के कुछ बुद्धिजीवी भारतीय स्थिति का समायोजन कृत्रिम रूप से यूरोप के हटवादी विचार-दर्शन के आधार पर करने का प्रयास करते हैं। पर ऐसा करते समय वे इस महत्वपूर्ण सच्चाई की उपेक्षा कर देते हैं कि दर्शन से संबंधित वैचारिक क्षेत्र का ऐतिहासिक विकास पूर्व और पश्चिम में एक समान नहीं रहा है।

यूरोपीय विचार दर्शन की मृग मरीचिका

यूरोप में मध्यकाल को विश्वास का युग कहा गया है। इस युग की प्रमुख विभूतियां संत आगस्टीन, संत थामस एक्विनास, बोएथियस, एरीजेना, एन्सेल्म, एबेलार्ड, बोनावेनुरा और एवरोज थीं।

पुनर्जागरण के काल को सामान्य रूप से साहसिक युग (एज ऑफ ऐडवेन्चर) बताया गया है। द विन्सी, मोर, मेकियावेली, माइकेल एंजलो एरसमस, कॉपर्निकस, मॉण्टेग्ने, केपलर, गैलीलियो और गियारडानो ब्रूनो इस युग के प्रतिनिधि विचारक या बुद्धिजीवी रहे हैं। सत्रहवीं शताब्दी में परंपरागत मध्यकालीन धर्मविज्ञान या थियालोजी का ह्रास हुआ और दर्शन के क्षेत्र में भौतिक शास्त्र और गणित का महत्व बढ़ गया। फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी को विवेक का युग (एज आफ रीजन) कह कर सम्बोधित किया गया। इस युग के प्रमुख दार्शनिक बेकन, पास्कल, हॉब्स, देकार्त, स्पिनोजा और लीबनिज थे।

अठारहवीं शताब्दी को ज्ञानोदय का युग (एज आफ एनलाइटेनमेंट) माना गया है। लॉक, बर्कले, वाल्तेयर, ह्यूम, रीड, कॉण्डिले और उनके जर्मन समीक्षक इस युग के प्रतिनिधि दार्शनिक विचारक थे। उन्नीसवीं शताब्दी विचारधारा का युग (एज आफ आइडालोजी) के नाम से प्रसिद्ध है। काण्ट, फिश्ते, हीगेल, शापन हॉवर, काम्टे, मिल, स्पेन्सर, मार्क्स, नीत्शे और कियर्कगार्ड इस युग के प्रतीक हैं। अब हम बीसवीं शताब्दी के अन्दर विश्लेषणवादी युग (एज आफ एनालिसिस) में जीवन यापन कर रहे हैं। पियर्स, हवाइट हेड, जेम्स, डेवी, बर्ट्रेण्ड रसेल, विटगनस्टेन, क्रोस, बर्गसन, सार्त्रे, हरबर्ट मारक्यूज, फ्रैन्टज फेनन, चे गुवेरा, आर०डी० लींग, सान्तयाना और कुछ अन्य विचारकों की गिनती इस युग के प्रमुख विचारकों में की जाती है और उनसे हम सभी परिचित हैं।

यूरोपीय विचार-दर्शन की यात्रा का यह अनुक्रम रहा है। इसका अध्ययन और विश्लेषण किए बिना इस सच्चाई को समझना बहुत कठिन है कि पिछली शताब्दी में वहां के कतिपय बुद्धिजीवी किन्हीं 'प्रगतिवादी' वैचारिक अवधारणाओं के मोह में क्यों ग्रसित हो गए थे? इसके साथ ही हम यह भी जानते

है कि भारतीय विचार-दर्शन का ऐतिहासिक विकास यूरोपीय विचार-दर्शन के उपयुक्त विकास क्रम से बिल्कुल भिन्न रहा है।

आधुनिक युग के प्रमुख श्रेष्ठ विद्वानों में से एक कैपरा का कहना है कि पश्चिमी देशों के विचारकों और विद्वानों ने अभी तक अन्तर्ज्ञान के स्थान पर विज्ञान, सहयोग के बजाए प्रतिस्पर्धा, संरक्षण के स्थान पर प्राकृतिक साधनों एवं स्रोतों का शोषण करने का समर्थन किया है .... और अन्यान्य कारणों के साथ-साथ इन तत्वों ने गंभीर सांस्कृतिक असन्तुलन पैदा कर दिया है। वर्तमान मानवीय सभ्यता के सम्मुख उपस्थित संकट का कारण यही है क्योंकि इसने हमारे विचारों और भावनाओं, मूल्यों और दृष्टिकोणों तथा सामाजिक एवं राजनीतिक संरचनाओं में असंतुलन की सृष्टि कर दी है। उसका आगे यह भी कहना है कि "वर्तमान संकट संवेदनशील संस्कृति से संक्रमण करने के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। इसी कारण व्यक्तियों, समाज, सभ्यता और भूमण्डलीय पर्यावरण व्यवस्था में हम संक्रमण काल के संधिकाल में पहुंच गए हैं।"

पर प्रश्न यह है कि क्या पश्चिमी प्रतिमान इस संक्रमण काल के संधिकाल की इस अवस्था में किंकर्तव्यविमूढ़ मानवता की कुछ भी सहायता कर सकेगा।"

फिर अपने प्रश्न का उत्तर देते हुए विद्वान लेखक स्वयं कहता है कि पश्चिमी प्रतिमान इस दृष्टि से हमारे लिए तनिक भी सहायक नहीं हो सकेंगे और इसलिए आज मानवता को एक नवीन प्रतिमान, यथार्थता या सच्चाई के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण, विचार प्रणाली में आधारभूत परिवर्तन और ज्ञान एवं मूल्यों के क्षेत्र में नवीन सोच की आवश्यकता अनुभव हो रही है।

क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय इतिहास में इस गंभीरतम संकट की घड़ी में पश्चिमी प्रतिमान पूरी तरह अपर्याप्त है और इसलिए उसका सहारा नहीं लिया जा सकता। पश्चिमी देशों की विचार-दर्शन सम्बन्धी यह यात्रा इस तरह समस्या के हल की दृष्टि से पूरी तरह अपर्याप्त, त्रुटिपूर्ण और आत्मघाती सिद्ध हो चुकी है। अतः इस स्थिति से उबरने के लिए अब धर्म रूपी 'नवीन प्रतिमान' ही हमारी सहायता कर सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण उन सभी व्यक्तियों के लिए एक चेतावनी और शिक्षाप्रद प्रसंग है जो इस मृग-मरीचिका के पीछे आज तक भागते रहे हैं कि आधुनिकीकरण को पश्चिम की आंख मूंदकर नकल करना मानते रहे हैं

चेतना के विकास पर टिका मानवतावाद

भारतीय विचार-दर्शन का प्रतिनिधित्व करने वाले पंडित दीनदयाल उपाध्याय यथास्थिति के पक्षधर नहीं थे। उनका सुनिश्चित दृढ़ मत था कि पुरानी व्यवस्था को बदलना ही होगा।

"परन्तु एक बात स्पष्ट है कि अनेक पुराने संस्थानों या इकाइयों को नवीन संरचनाओं के लिए अपना स्थान छोड़ना पड़ेगा। इससे पुरानी इकाइयों या संस्थानों में निहित स्वार्थ रखने वाले व्यक्ति बुरी तरह प्रभावित होंगे। कुछ ऐसे अन्य व्यक्ति जो स्वभावतः परिवर्तन-विरोधी हैं, उन्हें भी पुनर्निर्माण की इस प्रक्रिया से हानि होगी। लेकिन बीमारी के उपचार के लिए औषधि का सेवन तो करना ही पड़ेगा। अतः हमें यथास्थितिवादी मनोवृत्ति का परित्याग करके नवीन युग का सूत्रपात करना होगा। परन्तु पुनर्निर्माण के हमारे इन प्रयासों में अतीत से उत्तराधिकार में प्राप्त इकाइयों के प्रति किसी भी प्रकार की घृणा और तिरस्कार की भावना नहीं होगी। दूसरी ओर अतीत के उन संस्थानों, इकाइयों और परम्पराओं से चिपटे रहने की भी कोई आवश्यकता अब आज नहीं रह गई है जो इस कालचक्र के परिवर्तन क्रम में अपनी उपयोगिता खो चुके हैं।

पंडित जी के मानवतावाद की प्रमुख विशेषता उनका एकात्मवाद सम्बन्धी विचार है। यद्यपि उन्होंने मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए उपयुक्त सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की उपयोगिता को स्वीकार किया है, फिर भी उनका यह सुनिश्चित मत था कि मानवीय चेतना का निर्माण और विकास किया जाना अतीव आवश्यक है। इसका कारण यह है कि इसके अभाव में अच्छी से अच्छी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था भी मनोवांछित परिणाम नहीं दे सकती। मार्क्स के अनुसार जीवन का निर्धारण चेतना द्वारा नहीं

होता। मनुष्यों की सामाजिक चेतना उनके जीवन का निर्धारण करती हैं। अतः मार्क्स के अनुसार यह कहा जा सकता है कि मनुष्यों की चेतना उन्हें उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं कराती बल्कि इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को सुनिश्चित करता है। दूसरी ओर पंडित जी का विश्वास है कि जीवन या सामाजिक अस्तित्व और चेतना एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं, फिर भी उनमें निर्णायक तत्व चेतना का ही होता है। एकात्मवाद सम्बन्धी उनकी यह धारणा और उसके फलस्वरूप चेतना के विकास पर पंडित जी द्वारा दिया गया बल उनके दृष्टिकोण को मार्क्स के विश्लेषण से पूरी तरह अलग कर देता है।

राष्ट्रीय चेतना का उदात्त स्तर हमें मानव जीवन के उन परंपरागत भारतीय जीवन मूल्यों का पुनर्स्मरण कराता है जो प्रचलित आधुनिक पश्चिमी जीवन मूल्यों से कहीं अधिक भिन्न और श्रेष्ठ हैं। भारत के ये परंपरागत जीवन-मूल्य व्यक्ति की अन्तरात्मा को झकझोर कर उसे यह विश्वास दिलाने में सक्षम हैं कि भौतिक और अभौतिक या आध्यात्मिक तत्व एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए अकेले भौतिक पहलू पर आवश्यकता से अधिक बल दिए जाने से व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों तरह के जीवन में असंतुलन पैदा हो जाएगा। अतः हिन्दू संस्कृति और धर्म का पुनर्जागरण अपने राष्ट्र के पुनर्जागरण की प्रक्रिया की गति को तीव्र करने के लिए ही आवश्यक नहीं है बल्कि उत्पीड़ित मानवता को शान्ति, सुव्यवस्था और आनन्द प्रदान करने के लिए भी अपरिहार्य है।

सामान्य रूप से मानवता को और विशेष रूप से भारत को सभी व्याधियों से मुक्ति केवल चेतना सम्बन्धी शक्ति के उच्च स्तर द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। क्या पश्चिमी जगत के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सामाजिक अनशासन के साथ तालमेल बैठा पाना संभव है? भौतिकतावादी पश्चिमी संसार में स्वतंत्रता शीघ्र ही स्वेच्छाचारिता और अनुशासन कठोर एकरूपता में परिवर्तित हो जाते हैं। ऊपर से दिखाई देने वाली औद्योगिक तथा नागरिक स्वायत्तशासी सरकार हो सकती हैं। पर भारतीय सामाजिक व्यवस्था का यही मूलाधार है और यही उसकी सर्वप्रमुख विशेषता है। पश्चिमी जगत ने आज तक राष्ट्रीय स्वावलम्बन को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना के प्रतिकूल माना है। इसलिए वहां पर राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता का प्रबल ज्वार साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता की उड़ान अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा के अभाव या द्रोह में परिवर्तित हो जाता है। भारत के 'एकात्म मानववाद' ने पश्चिमी विचार-दर्शन सम्बन्धी व्यवस्थाओं की अपूर्णता, एकांगीपन, असन्तुलन और व्यर्थता को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है। एकात्मवादी इस व्यवस्था ने हमें ऐसे विश्व-राज्य के उदय की संभावना से अवगत करा दिया है जिसमें सभी देशों की राष्ट्रीय संस्कृतियां अपना-अपना विकास करते हुए मानवता को समृद्ध बनाने में सहायक हो सकेंगी और तब ऐसे मानव धर्म का विकास किया जा सकेगा जिसमें भौतिकता सहित सभी पंथ पूर्णता के साथ योगदान कर सकेंगे।

विविधताओं में आधारभूत आंगिक एकता का अहसास पश्चिमी जगत आज तक इसलिए नहीं कर सका है क्योंकि इसने एकरूपता को ही एकता मानने की जबर्दस्त भूल की है। वह भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के गुणों का कभी भी सही आकलन इसलिए नहीं कर सका है क्योंकि उसने हमारे यहां विद्यमान स्थायित्व को निष्क्रियता या गतिहीनता और प्रगति विरोधी मान लिया है और अपनी दुस्साहसिकता को उसने गतिशीलता घोषित कर रखा है। कोई भी पश्चिमी विचारक ऐसे एकात्मवादी शासन की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें प्रशासनिक सत्ता का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण हो। इसका कारण यह है कि उनकी समझ में ही यह बात नहीं आती कि किसी एक राज्यसत्ता के हाथ में समस्त शक्तियां केन्द्रभूत न करते हुए भी केन्द्र और राज्य सरकारों की सत्ताएं कायम की जा सकती हैं और उसमें क्षेत्रीय,

भारतीय जीवन और धर्म

भारतीय संस्कृति ने जीवन के भौतिक और अभौतिक का आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों की ऐसी समन्वित व्यवस्था का विकास किया है, जो व्यक्ति को विकास की सतत् प्रेरणा देती है।

हम सभी इस सच्चाई को जानते हैं कि 'अर्थ' और 'काम' भौतिकवादी जीवन-मूल्य हैं जिनका अत्यन्त सुन्दर समायोजन 'धर्म' और 'मोक्ष' के अभौतिक जीवन-मूल्यों के साथ किया गया है। इस तरह भौतिक पहलू की न तो उपेक्षा की गई है और न ही उसे गौरवान्वित किया गया है। फलतः उसने व्यक्तियों को भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार की प्रेरणाएं दी हैं। भौतिक क्षेत्र में वह आर्थिक जीवन-मूल्यों के आधार पर सामाजिक सम्मान और मान्यता को बढ़ावा देती है। प्रत्येक व्यक्ति को इन दोनों में से किसी भी एक को अपनाने की छूट इस शर्त के साथ दी गई थी कि आनन्दोपभोग और सामाजिक सम्मान और प्रतिष्ठा का दायरा जितना ऊंचा होगा आनन्दोपभोग का दायरा उतना ही संकुचित या छोटा होगा। इसी तरह आनन्दोपभोग का दायरा बढ़ने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान का दायरा संकुचित होता जाएगा। इस तरह भारतीय सामाजिक जीवन में पूर्ण समानता कायम की गई थी क्योंकि आनन्दोपभोग और सामाजिक प्रतिष्ठा या सम्मान की सकल मात्रा प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान थी। फिर भी अलग-अलग व्यक्तियों में इन तत्वों की मात्रा उनकी अपनी अभिरुचि के अनुसार भिन्न हुआ करती थी।

धर्म की अवधारणा भारतीय जीवन-शैली की प्रमुख विशेषता है। अब तो बुद्धिजीवियों और विचारकों ने भी यह अनुभव करना शुरू कर दिया है कि धर्म-पंथ, मजहब या रिलीजन से अलग है। मजहब या रिलीजन उच्च अदृश्य शक्ति या शक्तियों के प्रति विश्वास, मान्यता अथवा जाग्रत अनुभव से सम्बन्धित है और उसके साथ भावना, नैतिकता, कर्मकाण्ड, पूजा अथवा एक विशेष तौर तरीके पर आधारित विश्वास या पूजा की पद्धति जुड़ी होती है। 'भारत का कानूनी तथा संवैधानिक इतिहास' (लीगल एण्ड कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया) नामक अपनी पुस्तक में श्री एम.राम. जोइस ने लिखा है कि 'धर्म' व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने वाला संस्कृत भाषा का एक महत्वपूर्ण शब्द है। संसार की अन्य किसी भाषा में इसका समानार्थक कोई दूसरा शब्द नहीं है। इस शब्द की कोई सर्वसम्मत परिभाषा भी नहीं दी जा सकती। इसकी केवल व्याख्या ही की जा सकती है। इसके अनेक अर्थ हैं। उसमें से कुछ अर्थों का उल्लेख करने से इसके व्यापक संदर्भ को समझने में सरलता हो सकती है। उदाहरण के लिए "धर्म" शब्द को न्याय के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। किसी विशेष समुपस्थित अवस्था में क्या उचित है, प्राणियों के अस्तित्व को बनाए रखने में सहायक होने के लिए नैतिक, धार्मिक, पवित्र या सदाचारपूर्ण व्यवहार कौन सा होगा, दान देना, जीवन्त प्राणियों और वस्तुओं के स्वाभाविक प्राकृतिक गुणों, विशेषताओं और लक्षणों का ज्ञान कराना, कर्तव्य, विधि और उसके समान शक्ति रखने वाली परम्पराओं या रीति-रिवाजों आदि के साथ-साथ वैध 'राज-शासन' (राजा के आदेश) आदि को धर्म के अन्तर्गत शामिल किया गया है। महाभारत में इसी सच्चाई को स्पष्ट करते हुए भीष्म पितामह ने कहा है कि 'धर्म' की परिभाषा करना अत्यंत दुष्कर कार्य है। उसकी व्याख्या तो जीवन्त प्राणियों या जीवधारियों के उत्थान और विकास में सहायक होने वाली स्थितियों द्वारा की गई है। अतः जिसके द्वारा जीवधारियों का कल्याण होता है वही असंदिग्ध रूप से 'धर्म' है। मंत्रदृष्टा ऋषि-महर्षियों ने इसीलिए कहा है कि जिससे समाज की धारणा होती है, वही धर्म है।

श्री राम जोइस ने यह भी स्पष्ट किया है कि जब धर्म शब्द का प्रयोग राजा के कर्तव्यों और अधिकारों के संदर्भ में किया जाता है तब उसका अर्थ संवैधानिक कानून (राज-धर्म) से होता है। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि शान्ति और सामान्य जनता की समृद्धि तथा समतायुक्त समाज की स्थापना के लिए 'धर्मराज्य' आवश्यक है। तब 'राज्य' के संदर्भ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग का आशय केवल 'कानून' से होता है। अतः धर्म राज्य शब्द का अर्थ कानून का शासन (रूल आफ लॉ) कायम करना है न कि किसी तरह का 'मजहबी शासन' या 'मजहबी राज्य'।

सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायधीश श्री गजेन्द्र गडकर का इस विषय में कहना है कि :

"संसार के दूसरे अन्य मजहबों या रिलीजन की तरह हिन्दू धर्म का कोई एक पैगम्बर नहीं है। यह

किसी एक देवता की पूजा का विधान भी नहीं करता। हिन्दू धर्म किसी एक दार्शनिक अवधारणा का पोषक भी नहीं है और न ही यह किसी एक तरह के उपासना सम्बन्धी कर्मकाण्डों या पूजा पद्धति को अपनाने पर बल देता है। सच तो यह है कि वह किसी भी मजहब, पंथ या मत मतान्तर की संकुचित परम्परागत विशेषताओं को स्वीकार नहीं करता। अतः हिन्दू धर्म को तो एक जीवन-यापन की श्रेष्ठ प्रणाली के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता। भारतीय विचार-दर्शन का इतिहास इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि हिन्दू धर्म का विकास तो सदैव सत्य की खोज के अनन्त प्रयासों में प्रेरित रहा है और उसकी सदैव यह मान्यता रही है कि सत्य के अनेक पक्ष होते हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि "एक सद विप्राः बहुधा वदन्ति।" दूसरे शब्दों में "सत्य एक है किन्तु ज्ञानीजन उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न रूप से करते हैं।

एक अन्य प्रमुख विद्वान सी.के.एन. राजा ने अपनी पुस्तक "इतिहास से विमुक्ति" (एक्विटेड बाई हिस्ट्री) में लिखा है कि प्राचीन भारत के विधिशास्त्र या न्यायशास्त्र में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द को अंग्रेजी के कानून (लॉ) शब्द का समानार्थी नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि 'धर्म' शब्द अंग्रेजों के कानून (लॉ) शब्द की तुलना में कहीं अधिक व्यापक संदर्भ वाला है। लेकिन अंग्रेजी भाषा में किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में कानून (लॉ) शब्द को 'धर्म' शब्द के अर्थ को प्रकट करने में काफी सीमा तक सहायक माना जा सकता है।

धर्म का प्रयोग कानून के अर्थ में

इस स्थल पर 'धर्म' शब्द का प्रयोग पंथ, मजहब, या रिलीजन के लिए न होकर कानून के संदर्भ में है जो कि 'धर्म' के बहुत अधिक निकट है। भावी भारत की सांस्थनिक संरचना का विचार करते समय धर्म के इस सर्वव्यापक स्वरूप को समझ लेना अत्यधिक आवश्यक है।

अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या हमारे स्वयं के लिए पश्चिम के सर्वतोमुखी प्रभाव से अपने-आपको मुक्त रख पाना सम्भव है? इसी तरह पश्चिमी जगत के सभी विचार-दर्शनों का गम्भीर अध्ययन करते हुए अपने अनुकूल अनिवार्य रूप से भारतीय विचार दर्शन का विकास करते समय क्या हम पश्चिम के प्रभाव से मुक्त रह सकेंगे? इसका उत्तर 'हां' में ही दिया जा सकता है और महात्मा गांधी, पूजनीय श्री गुरु जी, पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने इसे सम्भव कर दिखाया है। उदाहरण

विचार-दर्शनों से भली-भांति परिचित थे।

मार्क्सवाद के अतिरिक्त (एडवर्ड बर्नस्टीन से लेकर मार्शल टीटो तक सभी संशोधनवादियों की व्याख्याओं सहित) पंडित दीनदयाल जी रावर्ट ओवेन, फोरियर और कैबे के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सभी तरह के प्रयोगों का पूर्ण ज्ञान रखते थे। इसी तरह उन्हें सां साइमन के सिद्धान्तों, प्राच्यम [illegible] सामाजिक आक्रामकता, ओकोनार के कृषि समाजवाद, ब्लांकी के 'अल्पसंख्यक चेतना सिद्धान्त', लुई ब्लांक के वैकासवादी समाजवाद, शुल्ज डेलित्जश के 'स्व-सहायता' सिद्धान्त और ब्रूनो बावर, मोसेज हेस एवं कार्लग्रन नामक जर्मन त्रयी विचारकों का 'सच्चे समाजवाद' का भली प्रकार ज्ञान था। उन्होंने लासाले, सिस्मांडी, लेमेनिया और प्रौधों का सविस्तार अध्ययन किया था। इसी तरह उन्होंने मार्क्स के पूर्ववर्ती और परवर्ती यूरोपीय विचार-दर्शन का गम्भीरता से मनन किया था जिसमें पूंजीवाद से लेकर अराजकतावाद और समाजवाद की सभी विचार प्रणालियों का अध्ययन-विश्लेषण शामिल था।

इन सभी विचार-दर्शनों और भारत की विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के विकास को आत्मसात करते हुए पंडित दीनदयाल जी ने उस 'एकात्मवादी मानवतावाद' की व्याख्या की जो कि दूसरी औद्योगिक क्रान्ति के परवर्ती काल की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सनातन धर्म के सिद्धान्तों का प्रगटीकरण है। अतः उनका यह विचार-दर्शन युगानुकूल है और यहां पर जो कुछ लिखा गया है वह उनके मूल विचारों पर ही आधारित है या उससे अनुस्यूत है।

व्यवहार जगत में धर्म का सम्बन्ध अपरिवर्तनीय, शाश्वत, सार्वदेशिक नियमों और उनके प्रकाश में सतत परिवर्तनशील सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था से है। उदाहरण के लिए पुरुष-नारी सम्बन्धों की नैतिकता सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत आती है। किन्तु नैतिकता का संरक्षण और संवर्धन करने वाली सांस्थनिक संरचना कभी भी शाश्वत और सार्वभौमिक नहीं हो सकती। विभिन्न कालखण्डों और विभिन्न देशों में यह अलग-अलग होगी। यहां तक कि हमारे अपने देश में भी ऐसी अनेक व्यवस्थाएं समय-समय पर परिवर्तित होती रही हैं। ईसाई चर्च की कुछ दमनकारी व्यवस्थाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप मार्क्स सहित यूरोप के अनेक प्रमुख विचारकों ने विवाह और परिवार सम्बन्धी सांस्थनिक संरचनाओं को अस्वीकृत कर दिया। इससे कुछ कम्युनिस्ट क्षेत्रों में

लिए नैतिक नियमों का पालन आवश्यक नहीं है। उन्होंने स्त्री-पुरुष के बीच स्वेच्छाचारी सम्बन्धों के सिद्धान्त का प्रचार शुरू कर दिया। लेकिन लेनिन और ट्राट्स्की जैसे उत्तरदायी नेताओं ने इस सिद्धान्त की सार्वजनिक रूप से भर्त्सना की क्योंकि उनका कहना था कि जो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में विश्वसनीय नहीं है, वह सार्वजनिक जीवन में भी भरोसेमन्द नहीं हो सकता। नैतिकता तो एक सार्वभौमिक नियम है। विवाह जैसी सांस्थनिक व्यवस्थाएं सामाजिक पटल पर सामयिक परिवर्तनों के साथ परिवर्तित और संशोधित होती रहेंगी।

धर्म के इस व्यावहारिक प्रयोग को समझकर ही अब हम 'भावी भारत की सांस्थानिक संरचना' के विषय पर आगे के पृष्ठों में विचार करेंगे।

तेजोमयी शिक्षा का स्वरूप

एकात्मवाद की मांग है कि शिक्षा, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और पर्यावरण पर समग्र या एकात्मवादी आधार पर विचार किया जाए। उदाहरण के लिए हम शिक्षा सम्बन्धी विषय को ले लें। उसका विवेचन करते समय हमें उसमें स्वस्थ संस्कारों की योजना को समाहित करना होगा।

शिक्षा

अपने देश में 'संस्कार-प्रक्रिया' पर सदैव बहुत अधिक बल दिया गया है क्योंकि इससे व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में बड़ी सहायता प्राप्त होती है। दूसरी औद्योगिक क्रान्ति के उत्तर-काल में हुए भारी परिवर्तनों के कारण प्राचीन संस्कार प्रक्रिया को रूपान्तरित किया जाना आवश्यक हो गया है। यह कार्य केवल सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यक्षेत्र में सक्रिय नेताओं या कार्यकर्ताओं द्वारा ही किया जा सकता है।

शिक्षा प्रणाली के पूर्ण नवीनीकरण की आवश्यकता इसलिए बहुत अधिक बढ़ गई है क्योंकि उसके द्वारा ही निकट भविष्य में भावी पीढ़ी के सर्वांगीण विकास और देश की आजीविका सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी की जा सकेंगी। इसके साथ ही उसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित प्रतिभा, ऊर्जा, मनीषा, कार्यशक्ति और अभिवृत्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण हो सकेगा।

किसी भी राष्ट्रीय योजना की गुणवत्ता को परखने की सबसे उचित कसौटी यही है कि यह देखा जाए कि उससे राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति का सर्वतोमुखी विकास करने के उद्देश्य से उसकी सभी प्रकार की अभिवृत्तियों का संतुलित विकास हो रहा है या नहीं। प्राचीन भारत में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सतत योजनाबद्ध प्रयास किए जाते थे।

आधुनिक युग की निराशाजनक या बैंकिंग शिक्षा प्रणाली के द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। संवादी पर आधारित शिक्षा की क्रान्तिकारी प्रणाली को आजमाया जाना आवश्यक है। इस अवधारणा का जनक फ्रायर है। इस प्रणाली के अन्तर्गत अध्यापक अपने विद्यार्थी को पूरी तरह जानने के साथ उसे अपने अध्यापक को समग्रता से जानने की पूरी छूट देता है और इस प्रकार छात्र तथा अध्यापक एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचान लेने के बादविद्यार्थी की बौद्धिक जिज्ञासा को ध्यान में रखकर बाह्य जगत की यथार्थता को जानने का संयुक्त प्रयास करते हैं।

हमारे पूर्वजों ने इस शिक्षा प्रणाली का वर्णन 'तेजस्विनो अध्येतमस्तु' कहकर किया है, जिसका अर्थ यह है कि हम दोनों का संयुक्त अध्ययन या विद्या तेजोमयी हो।

यह स्पष्ट है कि शिक्षा की वर्तमान प्रणाली इस प्रक्रिया को लागू करने के अनुरूप नहीं है। शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न आयोगों ने निस्संदेह अति प्रशंसनीय कार्य किए हैं। किन्तु यह सब कुछ शिक्षा के मौजूदा ढांचे के अन्तर्गत ही किया गया है जो कि पश्चिम के अंधानुकरण पर आधारित है। हमारे शिक्षाविदों और शिक्षाशास्त्रियों को अब अपने आपको इस भ्रम-जाल से मुक्त कर लेना चाहिए कि इस देश में अंग्रेजी राज्य कायम होने से पहले शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। श्री धर्मपाल ने अंग्रेज यात्रियों द्वारा भारत से स्वदेश भेजे गए पत्रों के द्वारा अंग्रेजों के इस तथाकथित दावे को असत्य सिद्ध कर दिया है।

भारतीय परम्परा में निष्णात शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा ही शिक्षा प्रणाली का पुनर्संगठन या पुनर्संयोजन किया जा सकता है। शिक्षा की इस नवीन प्रणाली का उद्देश्य संख्यात्मक दृष्टि से आधारभूत रूप से प्रत्येक नागरिक को साक्षर बनाना है और गुणात्मक दृष्टि से अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में चरम शिखर पर पहुंच कर उन्हें सफलता दिलाना है।

दत्तोपंत ठेंगड़ी

राष्ट्रीय आयोग की स्थापना हो

आर्थिक क्षेत्र में आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि हमारे नीति– निर्माता सर्वप्रथम उन सभी अवधारणाओं को पूरी तरह भूल जाएं जो आज समयातीत या काल-बाह्य हो चुकी हैं। आज की सबसे प्रमुख आर्थिक समस्याएं मुद्रास्फीतीऔर बेरोजगारी की हैं। फिर भी आश्चर्य यह है कि हमारे नीति निर्माताओं ने अभी तक बेरोजगारी की मात्रा का अनुमान लगाने के लिए भारतीय दशाओं के अनुकूल कोई कार्य-विधि विकसित नहीं की है। हम अभी तक 'गरीबी' और 'गरीबी रेखा' की कोई सुस्पष्ट परिभाषा तक नहीं कर सके हैं। प्राकृतिक संपदा का जिलों के आधार पर पूर्ण सर्वेक्षण भी आज तक नहीं किया गया है। विकेन्द्रीकरण के आधार पर उत्पादन की किसी ऐसी स्वदेशी तकनीक का विकास करने के लिए भी हमने गम्भीरता से कोई प्रयास आज तक नहीं किया है। जिससे कि बड़े-बड़े कारखानों के स्थान पर ऊर्जायुक्त घर उत्पादन के केन्द्र बन सकें। हमने अपने तकनीकी विशेषज्ञों को दुनिया भर की औद्योगिक तकनीक का विशद अध्ययन और उसे आत्मसात करने की प्रक्रिया में नहीं लगाया है। परिणाम यह है कि वे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल विदेशी तकनीक का लाभ उठाने में विफल रहे हैं। इसी तरह श्रमिकों में बेरोजगारी की वृद्धि न करते हुए उत्पादन की परम्परागत तकनीक में शिल्पकारों, दस्तकारों आदि के लाभ के लिए उचित परिवर्तन लाने, प्राप्त प्रबन्धकारी और तकनीकी कार्यक्षमता को व्यर्थ जाने से रोकने और मौजूद उत्पादन के साधनों में पूंजी के विनियोग का महत्व कम करने में हमारे तकनीकी विशेषज्ञ सफल नहीं रहे हैं। अतः अब (१) राष्ट्रीय तकनीक– नीति को सुनिश्चित करने के लिए पहले एक विशेषज्ञ समिति और (२) उसके बाद एक तकनीकी लोकपाल की नियुक्ति करना अतीव आवश्यक है। इसी तरह औद्योगिक स्वामित्व के आधार पर एक राष्ट्रीय आयोग तुरन्त कायम किया जाना चाहिए जो प्रत्येक उद्योग के लिए उपयुक्त ढांचे को सुनिश्चित कर सके। इसके साथ-साथ वह राष्ट्रीय आयोग इस बात पर भी विचार करे कि–

(१) सम्बन्धित उद्योग की असामान्य विशेषताएं क्या हैं? (२) राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की सकल आवश्यकताएं क्या हैं? (इनके अन्तर्गत निजी उद्योग, नगरपालिका के अधिकार क्षेत्र में आने वाले उद्योग, राष्ट्रीयकरण, सहकारीकरण, लोक-नंत्रीकरण, संयुक्त उद्योग, स्वरोजगार और श्रमीकरण का विनियमन करने वाले प्रतिमान शामिल हैं) सम्पत्ति की अवधारणा को अब स्वामित्व से न्यासीकरण (ट्रस्टीशिप) में परिवर्तित किया जाना आवश्यक है। कुछ उपयुक्त और चुनिन्दा मामलों में जापानी अनुभव और स्वदेशी परम्पराओं को दृष्टिगत रख करके 'औद्योगिक परिवार' नामक संस्था को विकसित करना वांछनीय है। इसी तरह कुछ उपयुक्त उद्योगों में दक्षता या कार्यकुशलता समीक्षा और समय-पूर्व चेतावनी देने से सम्बन्धित प्रणालियों की शुरूआत भी की जानी चाहिए। जापान के अनुभव से लाभ उठाकर व्यावसायिक प्रबन्धकों के प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में आध्यात्मिक शिक्षा को भी समाहित किया जाना उचित होगा।

योजना प्रक्रिया का नए सिरे से समायोजन करके उसे इस देश की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना बहुत जरूरी है। योजनाओं को अब यूगोस्लाविया के नियोजन प्रक्रिया के प्रतिमान के अनरूप क्षेत्रीय, उद्योग, क्षेत्रीय और उद्योग सम्बन्धी तरीकों के आधार पर नीचे से ऊपर की ओर विकसित की जानी चाहिए। जिससे सम्पूर्ण समाज एक स्थाई योजना-आयोग के अन्दर परिवर्तित हो जाए। दूसरे शब्दों में योजना आयोग को सम्पूर्ण समाजव्यापी बना दिया जाए।

• इसके अतिरिक्त (१) पूंजीनिवेश (२) उत्पादकता (३) रोजगार (४) कीमतों और (५) आय/वेतन से सम्बन्धित सभी पहलुओं को समाहित करने वाली राष्ट्रीय आर्थिक नीति को विकसित करने में योजना आयोग की सहायता करने के लिए सभी आर्थिक हितों के समय-समय पर गोलमेज सम्मेलन बुलाए जाने चाहिए।

हमारे नीति-निर्धारकों को इस तथ्य की जानकारी होनी चाहिए कि कीमतों में वृद्धि के लिए जिम्मेदार मुख्य कारण १. घाटे की अर्थव्यवस्था २. काला धन और ३. अनियंत्रित लाभ, लाभांश और ब्याज हैं। इसी तरह उन्हें इस बात को भी समझना चाहिए कि रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त एक सर्वेक्षण समिति के अनुसार औद्योगिक बीमारी की ५ प्रतिशत जिम्मेदारी प्रबन्धकों की है और श्रमिक अशान्ति का हिस्सा तो मात्र २ प्रतिशत है। उत्पादकता सम्बन्धी हानि के मामले में भी मजदूर

गया हो, फिर भी उसका क्रियान्वयन उल्लेखनीय दृढ़ता, सातत्यता और उदारता के साथ किया गया है।"

इसके अतिरिक्त गेलण्टर का यह भी अभिमत है कि "न्यायालय औपचारिक समानता और क्षतिपूरक न्याय की प्रतिस्पर्धी मांगों के बीच अस्थायी संतुलन कायम करके भीषण संकटों को टाल तो सकते हैं किन्तु, उन नीतियों से जुड़ी विपुल धनराशि और प्रभावहीनता की समस्याओं का हल वे नहीं निकाल सकतीं।"

इस विषय में डा० शिवा रमैया का कहना है कि "कठिनाइयां उस समय और अधिक बढ़ जाती हैं जब हम यह सोचते हैं कि मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत की गई समानता के अधिकार की व्यवस्था का राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के साथ मेल नहीं बैठता और उनमें विरोधाभास मौजूद है। ये विरोधाभास आंशिक रूप से संसाधनों की कमी का परिणाम हैं, जिन्होंने अयोग्यताओं का निवारण करके अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने से राज्य को आज तक रोक रखा है और जिनके बिना नीति-निर्देशक सिद्धांत साधनहीन गरीब व्यक्तियों का मखौल उड़ाते प्रतीत होते हैं। निःशुल्क कानूनी सहायता के अभाव में बेरोजगार व्यक्ति न तो अपने काम के अधिकार को सुरक्षित कर पाता है और न ही साधनहीन व्यक्ति को न्याय मिल पाता है।

अनुच्छेद १६ में वर्णित समानता के अधिकार से सम्बन्धित योग्यता और अनुपात की अवधारणा में सन्तुलन की व्यवस्था ऐसी समस्याओं को जन्म देती है, जो उनकी अन्तर्निहित असंगतियों से बिलकुल अलग हैं। योग्यता पर आधारित अवसर की समानता का अधिकार व्यक्ति के पक्ष में है, जबकि संरक्षणात्मक भेदभाव की व्यवस्था सामूहिकता के पक्ष में की गई है। अवसर की समानता का अधिकार न्यायालय द्वारा लागू कराया जाता है, कानून के समान संरक्षण का समानता सम्बन्धी अधिकार विधानमंडलों की नीतियों और सरकारों द्वारा उनके क्रियान्वयन पर निर्भर करता है। इसी तरह राज्य की न्यायिक और कार्यपालिका सम्बन्धी इकाइयों द्वारा इन अधिकारों पर भिन्न-भिन्न मात्रा में बल देने से संघर्ष उत्पन्न होते हैं।"

इसी तरह आन्द्रे बेते ने अपनी पुस्तक "समानता और असमानता, सिद्धान्त और व्यवहार" (इक्वेलिटी एण्ड इन्क्वेलिटी, थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस) में लिखा है कि "कानून सामान्य जनता की शिक्षा की कमी को पूरा नहीं कर सकता। भारतीय समाज समानता के इस आदर्श को व्यावहारिक रूप दे सकेंगे या नहीं, यह उस दृढ़ता पर निर्भर करेगा जिसके द्वारा वे सांस्थानिक संरचनाओं के निर्माण कार्य में अपने आपको पूरी तरह से लगा सकेंगे।■

किसानों को उनकी उपज का लाभकारी मूल्य उत्पादन में आने वाले खर्च और उचित मात्रा में लाभ को मिलाकर दिया जाता है तो वे स्वेच्छा से खेतिहर मजदूरों को उचित वेतन देने को तैयार हो जाएंगे।

अल्पसंख्यकों को यह बात भी मस्तिष्क मे रखनी चाहिए कि आज हम भले ही विभिन्न पंथों और जातियो मे बंटे हुए हो, हमारा आदर्श एकीकृत भारत ही है। अतः अल्पसंख्यकों द्वारा जाने या अनजाने मे भी कोई ऐसी मांग नहीं करनी चाहिए जो इस आदर्श की बलि चढ़ाती हो।